International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN :2581-9925(Online), Impact Factor: 7.555, Volume 07, No. 03(III), July- September, 2025, pp. 288-292

वैदिक साहित्य में मानवीय मूल्य

डॉ. रेनू रानी शर्मा*

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म कॉलेज, पलवल, हरियाणा।

*Corresponding Author: renusharma1806@gmail.com

Citation: शर्मा, रेनू. (2025). वैदिक साहित्य में मानवीय मूल्य. International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science, 07(03(III)), 288–292.

सार

वेदों के अनुशीलन से हमें प्राचीनतम संस्कृति एवं उसके आधारभूत तत्वों के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। संस्कृति एवं जीवन के मूल्य विकसित करने वाली सात इच्छाओं का परिगणन वैदिक करते हैं –आयु, परिवार, धन, यश, मान, विद्या, न्याय और मुक्ति।

शब्दकोशः *धन, यश, मान, विद्या, न्याय, मुक्ति, प्राचीनतम संस्कृति।*

प्रस्तावना

प्रत्येक नागरिक शतायु होने की वासना करता है।[1] उसकी आकांक्षा होती है कि यह 'जीवन निष्क्रियता, आलस्य या प्रमाद का न हो अपितु यह आरोग्य एवं शक्ति का प्रतीक हो, इसमें ज्ञन नेत्र का उदय हो।[2] मानवीय मूल्यों से तात्पर्य कुछ ऐसी मर्यादाओं, नियमों अथवा अनुशासन से है जिनका पालन करते हुए मनुष्य लौकिक तथा आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए जीवन लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सके। इस स्थिति में पहुंचा हुआ व्यक्ति निश्चिंत मन से ज्ञान प्राप्ति की कामना कर सकता है।[3] मनुष्य की आत्मिक उन्नति में ही समाज की, राष्ट्र की एवं समस्त विश्व की उन्नति निहित है। वैदिक ऋषि जीवन में मानवीय मूल्यों के विकास की इच्छा रखते हुए भिन्न भिन्न देवताओं से प्रार्थना करते हुए दिखाई देते है।[4] परिवार के संचालन का मूल 'धन' है।[5] धन की प्राप्ति मान एवं यश के साथ होनी चाहिए। इस स्थिति में पहुंचकर मनुष्य अन्ततः संसार के अंधकार से परम प्रकाशमय परमात्मा को प्राप्त करने का संकल्प लेता है जिस मुक्ति कहते हैं।[6]

गृहस्थ एवं मानवीय मूल्य

गृहस्थाश्रम की पहली शर्त है निर्विरोध दाम्पत्य।[7] इसके लिए पति–पत्नि की समान योग्यता व शिक्षा आवश्यक है।[8] इनसे योग्य घर ही समृद्धि व शान्ति का मूल है।[9] घर मात्र पति पत्नी तक ही सीमित नही है। इष्ट मित्र अतिथि तथा क्षुधा पीड़ित मनुष्य भी इसके अंग हैं। उनकी तृप्ति गृहस्थ का मूल एवं प्रथम कर्तव्य है।[10] अथर्ववेद का यह वर्णन कितना मार्मिक है – ''ये घर सत्य बोलने वालों, भाग्यवानों, धनिकों, हंसमुखों और भूख–प्यास से रहितों के हैं इसलिए डरिये मत। थके हुए पथिक, जो इन घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर अपनी ओर बुलाते है, इसलिए कहीं मत जाइये, यही रहिये''।[11] अतिथि सत्कार न करने वाले स्वार्थी व्यक्ति को वेदों में 'दस्यु' तक कहा गया है उन्हें मित्र नहीं मिलते। पुरूषार्थ से प्राप्त धन का ही व्यय होना चाहिए। यहाँ पारिवारिक सम्बन्ध की सीमा गृहभृत्य, पशु, मित्र और पडौसी तक की विकसित होती है।[12] इस प्रकार के गृहस्थ

* *Copyright © 2025 by Author's and Licensed by Inspira. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution License which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work properly cited.*

का व्यापक सामाजिक व्यक्तित्व और मानवीय मूल्यों के प्रति गहन आस्था प्रस्तुत होती है। जिसके अनुसार वह समाज के सभी वर्गो के साथ सौमनस्य स्थापित करता है। अन्ततः उसकी सीमा पूरी मानव जाति हो जाती है। ऐसे ही समाज में सभी प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्रभाव से देखते हैं।[13] जिसमें वह विराट पुरूष का साक्षात्कार करता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उपलब्ध संसाधनों में समान भागीदार बनता है।

सामाजिक व्यक्तित्व

सात मर्यादाऐं मानी गयी हैं – हिंसा, चोरी, मद्यपान, जुआ, असत्यभाषण, और दुष्टमैत्री से दूर रहना।[14] काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर छः विकार हैं।[15] हिंसा आदि वाह्य एवं कामादि आन्तरिक दुर्व्यसनों से मर्यादित व्यक्ति ही सामाजिक हो सकता है। इसका आधार है सत्य और मधुर भाषण।[16] इस प्रकार के व्यक्ति एवं समाज के परस्पर सम्बन्ध से समाज के ऐसे वातावरण का निर्माण अवश्यंभावी है जिसमें भद्र (कल्याणकारी) ही सुनाई देगा। भद्र ही आँख से दिखाई देगा। भद्र ही कर्म किया जायेगा। जिससे समग्र समाज का हित हो।[17] ज्ञानयुक्त मन ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। निष्पाप मन समाज का केंद्र है।[18] परनिन्दा करने वाला अधम तो है ही परन्तु हमें स्वयं ऐसा बनना चाहिये कि लोग निन्दा न कर सकें।[19] पशुओं से लेकर मनुष्याों तक की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[20] इसी प्रकार व्यसनों से दूर रहने से ही व्यक्ति का सामाजिक स्वरूप विकसित होता है।

संस्कार

संस्कार का सामान्य अर्थ है– मन, वाणी और शरीर का सुधार । यह सुधार गर्भ से ही प्रारम्भ होता है क्योंकि भारतीय व्यक्ति भौतिक तत्वों के संघात की आकस्मिक उपलब्धि नहीं बल्कि परम सत्ता के वंश रूप में सोद्देश्य विकास है। गर्भ में अपने उसी उददेश्य की पूर्ति के लिए अपनी लौकिक यात्रा प्रारम्भ करता है। फलतः संस्कार वही से प्रारम्भ होते हैं। मूलतः विवाह संस्कार इसलिए महत्वपूर्ण कहा गया है जो गर्भाधान आदि का प्राथमिक कारण है। विवाह सामाजिक संस्था है वैयक्तिक सुख का साधन नहीं। उसके लिए नियम संयम आदि योग्यताएं अनिवार्य हैं। इसी प्रकार विभिन्न संस्कारों के द्वारा व्यक्ति के उस व्यक्तित्व की कल्पना की गयी है जो पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष और द्यौ तक अपना विकास कर सके।[21]

समाज और राष्ट्र

चार प्रकार के भय माने गये हैं – बीमारी, प्राकृतिक विप्लव, समाज और राष्ट्र के आन्तरिक एवं वाह्य शत्रु। इनसे रक्षा आयुर्वेद, मन्त्र, प्रार्थना, और राज्य प्रबन्ध से होता है। परिस्थिति के अनुसार इनका उपयोग करना चाहिये।[22] धर्म नियन्त्रित राज्य के सम्यक् प्रयोग से ऐसे राष्ट्र की स्थापना होती है जिसमें धर्म कर्म से युक्त ब्राहमण, महारथी वीर क्षत्रिय, दूध देने वाल गाऐं, पुष्ट बैल, गतिमान अश्व, रूप गुणवती ललनाऐं, विजयीरथी, सभा में भाग लेने वाले पुत्र, वीर सन्तति, यथेष्ट अवसर पर वर्षा, फलवती वनस्पतियां और पूरे समाज के योगक्षेम की स्थापना संभव होती है।[23] जिन मानवीय मूल्यों को आधारभूत मानकर व्यक्ति के वैदिक व्यक्तित्व की कल्पना की गयी है। उसे यजुर्वेद की इस ऋचा में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया है –

श्री मेरा शिर है, यश ही मुख है, केश और दाढ़ी मूछ ही प्रकाश हैं, राजा प्राण है, सम्राट चक्षु, विराट् कान है, क्रोध ही मन है, स्वतंत्रता ही प्रकाश है, आमोद–प्रमोद ही अंगुलियां व अंग है। सहनशीलता ही मित्र है, बल ही बाहु है, कर्म ही इन्द्रियाँ हैं, वीर्य ही हाथ है, क्षत्र ही ह्रदय व आत्मा हैं, राष्ट्र ही पीठ है, प्रजा ही उदर, ग्रीवा, पैर, जंघा व घुटना व समस्त अंग प्रत्यंग है।[24] राष्ट्र समाज और विधि का आधार है ऋत।[25] ऋत व सत्य ही समग्र समाज व राज्य व्यवस्था के मूल हैं।

आजीविका

इस प्रकार की अदम्य शक्ति से युक्त व्यक्ति ही अपनी जीविका के लिए प्रश्न करता है ''इस पृथ्वी का अन्त कहाँ है, भूवन का मध्य कहाँ है, सेचन करने वाले अश्व रेत कहाँ है और कहाँ है आकाशमयी वाणी?[26] (वेद) के ज्ञान के द्वारा सर्वत्र अपना स्थान बना सकता है। इसके लिए वह यज्ञ (सर्वस्व समर्पण पूर्वक भोग) व्रत (नियम अनुशासन) आदि के द्वारा जीविका प्राप्त कर सकता हैं। इन नियमों के द्वारा प्राप्त सारी पृथ्वी खनिज

पदार्थ सभी कुछ उसी का है।[27] पृथ्वी पर रहने का उसका अधिकार तभी है ज बवह नियमपूर्वक उसके संसाधनों का प्रयोग करे, शत्रु कभी उसे पराजित न कर पायें, एश्वर्य और तेज का विस्तार करे, पर्वत जंगल खनिज शक्ति आदि से सुख प्राप्त करे, बुद्धि और विवेक से समस्त कार्य–व्यवहार सम्पन्न करता रहे। ऐसे ही व्यक्ति की यह पृथ्वी माता है एवं वह उसका पुत्र– ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः''।[28] मनुष्य की उत्पादन क्षमता में विषमता सिद्धान्त है परन्तु वितरण में समानता को महत्व दिया गया है। वेदों में इस विषय में इस प्रकार कहा गया है ''नेत्र आदि इन्द्रियों के समान होने से सब मनुष्य एक समान दिखाई देते हैं परन्तु मनोवेगों और बुद्धि बलों मे सब असमान हैं – एक ही माता से उत्पन्न गौऐं भी एक समान दूध नहीं देती। यमज (जुडवां) भाई भी एक समान बल व बुद्धि नहीं रखते। एक ही जाति के होते हुए भी सभी व्यक्ति समान व्यवहार नहीं करते।[29] लेकिन धन का बटवारीा पूरे समाज में योग्यता एवं आवश्यकतानुसार करना चाहिये।[30] निर्धनता राष्ट्र के लिए कलंक है।[31] कृषि, वनस्पति, पशुधन, व्यापार, कला, उद्योग धन्धे, औषधि विज्ञान आदि का स्वाभाविक रूचि और मनोवृत्ति के अनुसार विकास कर राष्ट्र को समृद्ध बनाये।[32]

अर्थ

मनुष्य शरीर के लिए अर्थ (धन) की अनिवार्य आवश्यकता होती है। उसका नियमपूर्वक प्रयोग होना परमावश्यक है। संसार में जो कुछ भी है परमावश्यक है। संसार में जो कुछ भी है ईश्वरमय है। उसका त्यागभाव से उपभोग करो। किसी और के धन पर कुदृष्टि मत डालो। उतना ही लो जितने से तुम्हारा जीवन निर्वाह होता हैं इस प्रकार जीविकोपार्जन से ही मुक्ति संभव है। इस प्रकार अर्थ उपार्जन करने वाला व्यक्ति कर्मबन्धन में नही पड़ता।[33] इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मनुष्य के स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर को महत्व प्रदान करता हुआ उसके मन वाणी और कर्म में सात्विक गुणों की वृद्धि एवं मानवीय मूल्यों को जीवन का आधार मानते हुए जीवनयापन पर बल देता है। समग्र जीवों में मनुष्य ही विवकेशील है। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह बिना किसी को कष्ट दिये अपना स्वत्व भोग करेगा। मनुष्य का यह दायित्व है कि वह अन्य जीवों को उनकी आयु व भोग में बाधा उत्पन्न न करे। यह ईश्वरीय व्यवस्था है और इसमें विघ्न डालना ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करना है।

काम

काम का तात्पर्य प्रजोत्पत्ति है वृहदारण्यकोपनिषद में कहा है कि पूर्व में विद्वान सन्तान की कामना नहीं करते थे '' पूर्वे विद्वांसः प्रजा न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः'' काम धर्मानुसार होने पर भगवान का स्वरूप माना गया है। मूलतः ब्रहमचार्य इस संस्कृति का लक्ष्य रहा हैं अथर्ववेद में कहा है – आजीवन ब्रहमचर्य से मोक्ष प्राप्त होता हैं ''**ब्रहमचर्येण तपसा देवा मृत्युमाप्नुत''** दूसरा सिद्धान्त नियमित सन्तान की उत्पत्ति है। मनु ने ज्येष्ठ को धर्मज तथा शेष को कामज सन्तान माना है। ऋग्वेद को धर्मज तथा शेष को कामज सन्तान माना है। ऋग्वेद के अनुसार बहु सन्तति कष्टदायी है। तीसरा यह भी प्रमाण प्राप्त होते हैं जिसमें अधिक सन्तति का वर्णन है।

वस्तुतः काम ज्ञान को नष्ट करने वाला कहा गया है। काम्य कर्मो का न्यास ही सन्यास है। इस प्रकार नियमित काम ही समाज के स्थायित्व का आधार बन सकता है न कि उच्छृंखल काम।

मुमक्षा

व्यक्ति समाज और राष्ट्र की आदर्श व्यवस्था के बाद ही मोक्ष का प्रश्न आता है जिसे औपनिषदिक ज्ञान कहते हैं। निश्चित ही जीवन लक्ष्य मोक्ष है लेकिन वह एकान्तिक नहीं हैं। वह जीव की अनेक सद्वृत्तियों की अन्तिम स्थिति है।

पुरूषार्थ चतुष्टय – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मनुष्य के शरीर मन बुद्धि और आत्मा सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्णता प्रदान करते हैं। सभी एक दूसरे के पूरक है। इनमें सम्बन्ध स्थापित कराने में सबसे बड़ी शक्ति धर्म है जिसके द्वारा 'अर्थ और काम' मोक्ष का साधन बन जाता है। मोक्ष के साधन हैं ज्ञान उपासना

और कर्म। इन्हें ही त्रयी विद्या कहते है इस विद्या की व्याख्या करने से ही वेद को भी त्रयी कहते हैं। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना का व्यावहारिक एवं मोक्ष के पूरक के रूप में विश्लेषण किया गया है। मोक्ष जीवन की अन्तिम स्थिति और स्वधर्म पालनपूर्वक परम साधना का परिणाम है। जीवन्मुक्त पुरूष सूर्यद्वार से मोक्ष प्राप्त करते हैं– ''सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'' मुण्डकोपनिषद के अनुसार सूर्य की सातों रश्मियाँ ब्रहमविद को वहाँ पहुंचा देती हैं जहाँ देवाधिदेव एक परमात्मा रहते हैं।[34]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा .....यजु0 25/22 तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्यैम शरद्ः शतं जीवेम शरदःशतं .....यजु0 36/24
2. अथर्व 19/25/1 ।।
3. यजु0 32/14/15, अथर्व0 6/41/1
4. ऊँ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद् भद्रं तन्न आ सुव ।। ऋ0 5/82/5।।
5. ऋग्वेद 10/117/8।।
6. वेदाहमेतं पुरूषं महान्तमाादित्यवर्ण तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय .....।। (यजु0 31/18)
7. ऋग्वेद 10/85/42
8. ऋग्वेद 10/85/47
9. अथर्व 9/3/16
10. उर्जं विभ्रद वसुवनिः सुमेधा अधोरेण ..... अथर्व 7/60/105
11. सुनृतावन्तो सुभगा इरावन्तो हसामुदा .....अथर्व 7/60/6–7
12. य ओजिष्ठस्तमा भर, पवमान श्रण्याययम्। यः पन्चचर्षणीरभि रयिं येन वनामहै। ऋ0 9/10/9
13. अथर्व 3/30/1–6, यजु0 19/46, अथर्व 9/1/22
14. सप्तमर्यादा कवयस्ततक्षुः तासामिदेकामन्यं हुरोगात्
15. उलूकयातुं शुलूकयांतु जहिश्वयातुमुत कोकयातुम ..... ऋ0 7/104/22।।
16. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा..... ऋ0 10/71/2
17. भद्रं कर्णेभि श्रुणुयाम देवा भद्रं ..... यजु0 25/21
18. इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रहम ..... अथर्व 19/9 अथर्व 6/45/1
19. अथर्व 19/51/1
20. अथर्व 10/1/29
21. नामान्महिं यं त्वा सोमेनाती नृषाम्। भूर्भवः स्वः सुप्रजाः .....यजु0 7/29
22. यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरू ..... यजु0 36/22
23. आ ब्रह्मन बह्मवर्चसी जायताम् राष्ट्रे राजन्यः शूर इषवोऽतिव्याधी महारथो जायतां ..यजु0 22/22
24. यजु0 20/5–8
25. अथर्व0 8/9/13
26. यजु0 23/61–62
27. यजु0 18/13

28. अथर्व 12/1

29. ऋग्वेद 10/71/7, 10/17/9

30. यजुर्वेद 30/4

31. ऋग्वेद 10/155/1

32. ऋग्वेद 4/57 , 5/45/6 , यजु0 16/17, अथर्व0 3/15/1–6

33. ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुन्जीथा मा गृधः कस्यच्द्धनं।। यजु0 40/1–2 ।।

34. तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽघिवास .....मुण्डकउप0 1/2/6।। ततो मुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये.... मु0उ0 3/2/6

सहायक ग्रन्थ सूची

35. ऋग्वेद संहिता, वैदिक संशोधन मण्डल 1933/46 (सायण भाष्य सहित) पूना

36. तैत्तिरीय संहिता, वैदिक संशोधन मण्डल 1970–81 (भटटभास्कर, सायण भाष्य सहित) पूना

37. काठक संहिता, स्वाध्याय मण्डल 1943 (व्याख्याकार –दामोदर सातवलेकर) बम्बई

38. तैत्तिरीय उपनिषद , गीता प्रेस, गोरखपुर

39. ईशावास्योपनिषद, गीता प्रेस, गोरखपुर मुण्डकोपनिषद, गीता प्रेस, गोरखपुर.

❑❑❑